Journal of Interdisciplinary and Multidisciplinary Research (JIMR)
E-ISSN:1936-6264| Impact Factor: 6.886|
Vol. 16 Issue 11, Nov- 2021
Available online at: https://www.jimrjournal.com/
(An open access scholarly, peer-reviewed, interdisciplinary, monthly, and fully refereed journal.)

जयशंकर प्रसाद की दृष्टि में भक्ति काव्यधारा की उत्पत्ति

-डॉ. अंजनी कुमार श्रीवास्तव
सह-आचार्य, हिन्दी विभाग,
महात्मा गाँधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी

जयशंकर प्रसाद कवि और नाटककार ही नहीं ,बल्कि एक सांस्कृतिक चिंतक भी हैं । भक्ति काव्यधारा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में उनके चिंतन का सांस्कृतिक मूल्य है । अपने निबंध रहस्यवाद में प्रसाद ने भक्ति काव्यधारा की उत्पत्ति पर विचार किया है । उन्होंने आत्मविश्वासहीन आस्तिकवाद को भक्ति काव्यधारा की उत्पत्ति का कारण माना है । भक्ति काव्यधारा के उदय के प्रसंग में प्रायः इसकी चर्चा नहीं की जाती है । लेकिन, अपने साहित्येतिहास में रामस्वरूप चतुर्वेदी ने इसका उल्लेख किया है और रामचन्द्र शुक्ल के मत का पूरक माना है "रामचन्द्र शुक्ल की ऐतिहासिक संदर्भों की व्याख्या और प्रसाद की दर्शिनिक संदर्भ की व्याख्या एक दूसरे की पूरक बन जाती है।"[1] एक तरह से यह भारतीय चिन्ताधारा के स्वाभाविक विकास का ही मत है । इतिहास के विकास की प्रक्रिया में दो चीजें महत्त्वपूर्ण होती हैं अन्तराल ओर निरंतरता । आत्मविश्वासहीन आस्तिकवाद का मत निरंतरता को पुष्ट करता है ।

भक्तिधारा के उदय को जयशंकर प्रसाद दो वर्गों में विभक्त करते हैं- एक बुद्धिवादी धारा के विकासक्रम में भक्ति का उदय और दूसरा आनंदवादी धारा के विकासक्रम में भक्ति का उदय । आत्मविश्वासहीन आस्तिकवाद का मत बुद्धिवादी धारा के विकासक्रम में भक्ति के उदय की व्याख्या करता है । जयशंकर प्रसाद के अनुसार "दुःखवाद जिस मनन शैली का फल था, वह बुद्धि या विवेक के आधार पर तर्कों के आश्रय बढ़ती रही । अनात्मवादी ही भक्तिवादी बने और बुद्धिवाद का विकास भक्ति के रूप में हुआ । जिन-जिन लोगों में आत्मविश्वास नहीं था, उन्हें एक त्राणकारी की आवश्यकता हुई । प्रणतिवाली शरण खोजने की कामना—बुद्धिवाद की एक धारा--प्राचीन एकेश्वरवाद के आधार पर ईश्वर-भक्ति के स्वरूप में बढ़ी और इन लोगों ने अपने लिए अवलंब खोजने में नये-नये देवताओं और शक्तियों की उपासना प्रचलित की।"[2] यह मत नास्तिकता के

[1] रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिन्दी काव्य-संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद,2003, पृ.-17

[2] जयशंकर प्रसाद, रहस्यवाद, प्रसाद वाङ्मय, पंचम खंड, प्रसाद प्रकाशन, वाराणसी, वि.सं.2049, पृ.-57-58

Journal of Interdisciplinary and Multidisciplinary Research (JIMR)
E-ISSN:1936-6264| Impact Factor: 6.886|
Vol. 16 Issue 11, Nov- 2021
Available online at: https://www.jimrjournal.com/
(An open access scholarly, peer-reviewed, interdisciplinary, monthly, and fully refereed journal.)

आस्तिकता के रूप में पर्यवसान को दिखाता है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार इस्लाम के आगमन के बाद की निराशा और फिर त्राणकारी ईश्वर की शरण में हिन्दुओं के गमन[3] से यह बिल्कुल भिन्न है, यद्यपि यह भी निराशा और त्राणकारी की बात करता है । रामस्वरूप चतुर्वेदी ने शुक्लजी के मत से इसका गलत साम्य बैठाया है । यह भारतीय चिन्ताधारा के भीतर घटित होने की बात करनेवाला पूर्णतः दार्शनिक मत है जबकि शुक्लजी की निराशा का आधार भौतिक है जो इस्लाम के आगमन के बाद घटित हुआ । शुक्लजी ध्यान केन्द्रित करते हैं इतिहास में हुए नये परिवर्तन पर, प्रसाद जी देखते हैं निरंतरता । इसिलए शुक्लजी के मत से से किसी प्रकार संयुत करना प्रसाद के मत की दुर्व्याख्या करना है ।

जयशंकर प्रसाद मानते हैं कि भारतीय दर्शन की दो परम्पराएँ हैं--एक बुद्धिवादी या विवेकवादी धारा और दूसरी आनंदवादी या आत्मवादी धारा । आरंभिक वैदिक युग से ही वे इन दोनों धाराओं का अस्तित्व स्वीकार करते हैं । एकेश्वरवाद और आत्मवाद दोनों धाराओं की निर्मिति जयशंकर प्रसाद इस प्रकार देखते हैं "आरंभिक वैदिक काल में प्रकृति-पूजा अथवा बहुदेव उपासना के युग में ही, जब 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदंति' के अनुसार एकेश्वरवाद विकसित हो रहा था, तभी आत्मवाद की प्रतिष्ठा भी पल्लवित हुई । इन दोनों धाराओं के दो प्रतीक थे । एकेश्वरवाद के वरूण और आत्मवाद के इन्द्र प्रतिनिधि माने गये । वरूण न्यायपति राजा और विवेकपक्ष के आदर्श थे । महावीर इन्द्र आत्मवाद और आनंद के प्रचारक थे।"[4] आगे प्रसाद लिखते हैं कि सप्तसिंधु के आर्यों ने आनंदवादी धारा को स्वीकार किया जबकि असीरिया आदि अन्य देशों में विवेकवादी-ऐकेश्वरवादी धारा को स्वीकार किया गया । भारत में जिन्होंने वैदिक धर्म की प्रधान धारा आनंदवाद और आत्मवाद को नहीं स्वीकार और विवेकवादी बने रहे वे व्रात्य कहलाए । इन्हीं व्रात्यों के उत्तराधिकारी तार्थंकर और बुद्ध हुए । विवेक और तर्क ने जिस बुद्धिवाद का विकास किया उसमें दुःखवाद की प्रतिष्ठा हुई ।[5] इसी दुःखवादी अनात्मवादी धारा के विकास के क्रम में भक्ति की उत्पत्ति की व्याख्या आत्मिवश्वासहीन आस्तिकवाद करता है ।

[3] रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं. 2047, पृ.34
[4] वही, पृ.-56
[5] वही, पृ.-56-57

Journal of Interdisciplinary and Multidisciplinary Research (JIMR)
E-ISSN:1936-6264| Impact Factor: 6.886|
Vol. 16 Issue 11, Nov- 2021
Available online at: https://www.jimrjournal.com/
(An open access scholarly, peer-reviewed, interdisciplinary, monthly, and fully refereed journal.)

मत पर सीधे-सीधे पहुँचने के पले प्रसाद की उस महत्त्वपूर्ण धारणा पर विचार आवश्यक है जो आनंदवाद और बुद्धिवाद को दर्शन की दो धाराएँ मानती हैं और उसके प्रतिनिधि के रूप में क्रमशः इन्द्र और वरूण को देखती है । फिर, इन्द्र को आत्मवादी ओर वरूण को एकेश्वरवादी कहना भी विवेचन की अपेक्षा रखता है । जिस वरूण को प्रसाद महज एकेश्वरवाद के प्रतिनिधि के रूप में देख रहे हैं और अद्वैतवाद से अलग देख रहे हैं, डॉ. राधाकृष्णन के लिए वही वरूण अद्वैतवाद और भक्ति के प्रारंभिक केन्द्र हैं । वे लिखते हैं, "वरूण की उपासना से हम अद्वैतवाद के बिलकुल निकट पहुँच जाते हैं । सदाचार संबंधी एवं आध्यात्मिक सब गुण यथा न्याय, उपकार, साधुता और यहां कि करूणा भी उसी वरूण में सन्निहित बताये गये हैं।"[6] आगे वे कहते हैं, "उच्च श्रेणी के अस्तिकवाद के सब सारभूत तत्त्व हमें वरूण की पूजा में मिल जाते हैं । यदि भक्ति का अर्थ एक देहधारी ईश्वर में विश्वास, उसके प्रति प्रेम, उसी की सेवा में सर्वस्व अर्पण करना और उसी की विशेष भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्ति आदि समझे जाएँ तो निश्चय ही हमें ये सब तत्त्व वरूण की पूजा में मिलते हैं।"[7] निस्संदेह ऋग्वेद के वरूण सूक्त से वरूण की एकेश्वरवादी छवि उभरती है, पर एकेश्वरवादी छवि के साथ अद्वैतवाद भी यहाँ देखा जा सकता है । इसलिए दो पृथक धाराएँ एक दूसरे से सर्वथा असंबद्ध चलीं कहना उचित प्रतीत नहीं होता । जयशंकर प्रसाद का यह कथन कि 'आनंदवाद वाली मुख्य अद्वैत धारा में भक्ति का विकास एक दूसरे ही रूप में हो चुका था'[8] समीचीन नहीं जान पड़ता ।

प्रसाद जी की मूल स्थापना के तीन महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं

1. अनात्मवाद की प्रतिक्रिया हुई
2. बुद्धिवाद का विकास भक्ति के रूप में हुआ ।
3. एकेश्वरवाद के आधार पर भक्ति का स्वरूप चला ।

अनात्मवाद की प्रतिक्रिया हुई । यह धारणा ठीक प्रतीत होती है । सिद्ध से नाथ सम्प्रदाय के उदय में इसे देखा जा सकता है । सिद्ध अनात्मवादी हैं और उनसे उत्पन्न नाथ आत्मवादी । अगर

[6] राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन-1, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, तीसरा संस्करण, 1973,पृ.-81
[7] वही, पृ.-98
[8] वही, पृ.-58

Journal of Interdisciplinary and Multidisciplinary Research (JIMR)
E-ISSN:1936-6264| Impact Factor: 6.886|
Vol. 16 Issue 11, Nov- 2021
Available online at: https://www.jimrjournal.com/
(An open access scholarly, peer-reviewed, interdisciplinary, monthly, and fully refereed journal.)

नाथों को आत्मवादी कहने में संदेह भी हो तो इतना कहा ही जा सकता है कि वे आस्तिकवादी हैं । हीनयान से महायान की ओर बौद्ध धर्म का प्रयाण भी इसी प्रतिक्रिया की सूचना देता है, क्योंकि बोधिसत्व की पूजा एक त्राणकारी की ही खोज थी । अगर निर्गुण भक्ति के संबंध में इस मत की व्याख्या करें तो धारणा कुछ इस तरह की बनती है कि व्रात्य धर्म ही आगे बढ़ा और एकेश्वरवाद के रूप में भक्ति में परिणत हो गया । इस मत का अगर व्यावहारिक संदर्भ देखें तो साधारणतया अनौचित्य प्रतीत नहीं होता । अनात्मवादी बौद्ध नाथ बने जहाँ त्राणकारी उन्हें मिल चुका है शिव के रूप में । यही शिव तत्त्व राम नाम से अभिन्न होता है कबीर में । एकेश्वरवाद चलता है कबीर की पद्धति में । ताराचंद, इरफान हबीब आदि बहुत लोगों ने कबीर में एकेश्वरवाद लक्षित किया है ।[9] प्रश्न करने की प्रवृत्ति के कारण कबीर को बुद्धिवादी धारा में खींचा भी जा सकता है । जयशंकर प्रसाद इसे इस तरह प्रस्तुत करते हैं, "हिन्दी के इन आदि रहस्यवादियों को, आनंद के सहज साधकों को बुद्धिवादी निर्गुण संतों को स्थान देना पड़ा । कबीर इस परम्परा के सबसे बड़े कवि हैं । कबीर में विवेकवादी राम का अवलम्ब है और संभवतः वे भी साधो सहज समाधि भली इत्यादि में सिद्धों की सहज भावना को ही जो उन्हें आगमवादियों से मिली थी दोहराते हैं । कवित्व की दृष्टि से भी कबीर पर सिद्धों की कविता की छाया है।"[10] हलांकि हजारीप्रसाद द्विवेदी और पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल सबने नाथ परम्परा से निर्गुण भक्ति का संबंध जोड़ा है जिसकी चर्चा भारतीय चिन्ताधारा का विकास उप-अध्याय में की गयी है । लेकिन कबीर के राम को विवेकवादी उन्होंने नहीं कहा है । वैसे विवेकवादी राम तो तुलसी के भी हैं । लेकिन असली समस्या यह नहीं है । मूल बिन्दु जहाँ प्रसाद के मत की सीमा उजागर होती है वह है कबीर का अद्वैतवादी होना । कबीर के कई पद और उनकी साखियाँ उनके अद्वैतवादी होने की पुष्टि करती है । इसकी व्याख्या में प्रसाद का मत समर्थ नहीं हो पाता ।

कृष्ण भक्तिधारा को भी प्रसाद बुद्धिवाद के विकास के रूप में देखते हैं जहाँ आनंदवादी धारा आकर मिल जाती है । वे लिखते हैं, "श्रीकृष्ण को अवलम्ब मानकर द्वैत-उपासकों ने जिस आनंद

[9] इरफान हबीब, 'मध्यकालीन लोकवादी एकेश्वरवाद तथा उसका मानवीय स्वरूप', सं. कुँवरपाल सिंह, भक्ति आन्दोलनः इतिहास और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2008, पृ.-23-24

[10] जयशंकर प्रसाद, रहस्यवाद, वही, पृ.-67

Journal of Interdisciplinary and Multidisciplinary Research (JIMR)
E-ISSN:1936-6264| Impact Factor: 6.886|
Vol. 16 Issue 11, Nov- 2021
Available online at: https://www.jimrjournal.com/
(An open access scholarly, peer-reviewed, interdisciplinary, monthly, and fully refereed journal.)

और प्रेम की सृष्टि की, उसमें विरह और दुःख आवश्यक था । द्वैतमूलक उपासना के बुद्धिवादी प्रवर्तक भागवतों ने गोपियों में जिस विरह की स्थापना की, वह परकीय प्रेम के कारण दुःख के समीप अधिक हो सका और उसका उल्लेख भागवत में विरल नहीं है । इस प्रेम में पर का दार्शनिक मूल है स्व को अस्वीकार करना । फिर तो बृहदारण्यक के 'यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' के अनुसार वह प्रेम विरह सापेक्ष ही होगा।"[11] प्रसाद की यह धारणा कई उलझनों को सुलझाने में मदद करती है । मसलन भागवत धर्म के न होने के कारण हम जयदेव और विद्यापति को आनंदवादी धारा में पूर्णतः निमग्न पाते हैं इसलिए विरह तो है, पर संयोग की पूर्ण स्थिति भी है । विद्यापति की नायिका राधा कृष्ण से संयोग में भी विरह की कल्पना नहीं करती जबकि भक्त चंडीदास की नायिका संयोग में भी विरह की कल्पना से दग्ध होती है । चंडीदास पर भागवत का प्रभाव इस दृष्टि से मान सकते हैं लेकिन भागवत का यही रूप या यों कहें बुद्धिवादी स्वरूप सूरदास के यहाँ उस रूप में नहीं है । परकीया को सूरदास ने स्वकीया बना दिया है । फिर भी विरह की प्रधानता तो है ही । कृष्ण भक्ति की कविता को माधुर्य से ओत-प्रोत करनेवाले चैतन्य और भक्ति को रस का दर्जा देनेवाले रूपगोस्वामी को भी शुद्ध प्रसाद आनंदवादी नहीं मानते । उनके अनुसार "यह प्रेम का रहस्यवाद विरह-दुःख से अधिक अभिभूत रहा । यद्यपि कुछ लोगों ने इसमें सहज आनंद की योजना भी की थी और उसमें माधुर्य-महाभाव के उज्ज्वल नीलमणि को परकीय प्रेम के कारण गोप्य और रहस्यमूलक बनाने का प्रयत्न किया था, किन्तु द्वैतमूलक होने के कारण तथा बाह्य आवरण में बुद्धिवादी होने से यह विषय साहित्यिक ही अधिक रहा । निर्गुण सम्प्रदायवाले संतों ने भी राम की बहुरिया बन कर प्रेम और वरह की कल्पना कर ली थी, किन्तु सिद्धों की रहस्य-संप्रदाय की परम्परा में तुकनगिरि और रसालगिरि आदि ही शुद्ध रहस्यवादी कवि लावनी में आनंद और अद्वयता की धारा बहाते रहे।"[12]

आत्मविश्वासहीन आस्तिकवाद का सिद्धांत केवल निर्गुण भक्ति के उदय की व्याख्या के प्रसंग में कुछ मदद करता है । लेकिन, इससे कई समस्याएँ पैदा होती हैं । निर्गुण भक्ति और सगुण भक्ति

[11] वही, पृ.-66
[12] वही, पृ.-68

Journal of Interdisciplinary and Multidisciplinary Research (JIMR)
E-ISSN:1936-6264| Impact Factor: 6.886|
Vol. 16 Issue 11, Nov- 2021
Available online at: https://www.jimrjournal.com/
(An open access scholarly, peer-reviewed, interdisciplinary, monthly, and fully refereed journal.)

अथवा अनात्मवादी परम्परा की भक्ति और आत्मवादी परंपरा की भक्ति के आपस में कोई संबंध नहीं जुड़ते । भक्ति की अपनी स्वतंत्र इयत्ता जिसने एक आन्दोलन का स्वरूप ग्रहण किया उसका कुछ भी इससे पता नहीं चलता । भक्ति की उत्पत्ति तो काफी पहले हो चुकी थी, वरूण (जो प्रसादजी के लिए आनात्मवादियों के सर्वप्रमुख देवता है) सूक्त में भक्ति के संकेत मिल जाते हैं । व्रात्य परम्परा ने इससे अपने को क्यों नहीं जोड़ा? इससे इस मत की सीमा भी उजागर होती है और मूल धारणा ही प्रश्नांकित होती है कि आनंदवादी और विवेकवादी दो धाराएँ सर्वथा अलग थीं ।

व्यावहारिक रूप से एक समस्या गोरखनाथ को लेकर पैदा होती है । गोरखनाथ वह बिन्दु है जहां से अनात्मवाद आत्मवाद में बदलता है । लेकिन यह नहीं कहा जा सकता है कि आत्मविश्वास की कमी के कारण वे आस्तिकतावादी हो गये थे । शंकराचार्य के बाद सबसे प्रभावशाली व्यक्ति थे गोरखनाथ । इसलिए इस तरह की धारणा संकटग्रस्त हो जाती है । नास्तिक जब आस्तिक हुए तब वे वैष्णव धारा में कैसे आ गये ? इसका कोई उत्तर इस मत से नहीं मिलता और न ही प्रसाद के विवेचन से इसका कुछ पता चलता है । नास्तिक जब आस्तिक हुए तो शिव को उन्होंने मूल तत्त्व माना, नाथ परम्परा इस बात का संकेत करती है । संत ज्ञानेश्वर नाथ परम्परा में भी आते हैं और भक्ति की परम्परा में भी । नामदेव में भी दोनों चीजें हैं । दक्षिण से आती हुई भक्ति की धारा में शैव और वैष्णव दोनों तत्त्व थे जो ज्ञानेश्वर में मिल जाते हैं । नाथों का शिव तत्त्व उसमें अंतर्भुक्त हो जाता है । इसलिए पता नहीं चलता । लेकिन यही चीजें कबीर में दिक्कत पैदा कर देती हैं । नाम से तो शिव या शैव तत्त्व लगभग गायब ही हैं , वैष्णव तत्त्व की ही प्रमुखता है । इस वैष्णव तत्त्व के आने और सम्मिलित होने का कोई संकेत इस व्याख्या से नहीं मिलता ।

अतः आत्मविश्वासहीन आस्तिकवाद का मत बहुत महत्त्वपूर्ण है | किन्तु, इस मत से भक्ति काव्यधारा के उदय की समुचित व्याख्या में थोड़ी समस्या होती है । हलांकि बौद्ध से सिद्ध, नाथ और फिर निर्गुण भक्ति की निरंतरता के विश्लेषण में यह सहायक होती है, पर वह विशेष स्थिति जिसमें वैष्णव भक्ति संभव होती है उसकी व्याख्या इससे नहीं हो पाती । ऐसा प्रतीत होता है कि यदि प्रसाद ने आनंदवादी और विवेकवादी दोनों धाराओं के पारस्परिक समन्वय को भी आधार बनाया होता तो वे भक्ति की उत्पत्ति की व्याख्या में अधिक समर्थ होते ।